

# श्वेताम्बर सम्प्रदाय के गच्छों का सामान्य परिचय

- शिवप्रसाद

विश्व के सभी धर्म एवं सम्प्रदाय अपने उद्भव के पश्चात् कालान्तर में अनेक शाखाओं-उपशाखाओं आदि में विभाजित होते रहे हैं। जैनधर्म भी इसका अपवाद नहीं है। यह विभाजन अनेक कारणों से होता रहा है और इनमें सबसे प्रधान कारण रहा है -- देश और काल की परिवर्तनशील परिस्थितियाँ एवं परिवेश। इन्हीं के फलस्वरूप परम्परागत प्राचीन विधि-विधानों के स्थान पर नवीन विधि-विधानों और मान्यताओं को प्रश्रय देने से मूल परम्परा में विभेद उत्पन्न हो जाता है। कभी-कभी यह मतभेद वैयक्तिक अहं की पुष्टि और नेतृत्व के प्रश्न को लेकर भी होता है, फलतः एक नई शाखा अस्तित्व में आ जाती है। पुनः इन्हीं कारणों से उसमें भी भेद होता है और नई-नई उपशाखाओं का उदय होता रहता है।

निर्गन्ध श्रमण संघ में भगवान् महावीर के समय में ही गोशालक<sup>1</sup> एवं जामालि<sup>2</sup> ने संघभेद के प्रयास किये, परन्तु गोशालक आजीवक संघ में सम्मिलित हो गया और जामालि की शिष्य-परम्परा आगे नहीं चल सकी।

वीरनिर्वाण के बाद की शताब्दियों में निर्गन्ध श्रमण संघ विभिन्न गण, शाखा, कुल और अन्वयों में विभक्त होता गया। कल्पसूत्र<sup>3</sup> और नन्दीसूत्र<sup>4</sup> की स्थविरावलियों में वीरनिर्वाण सम्वत् 980 अर्थात् विक्रम सम्वत् की 5वीं-6ठीं शताब्दी तक उत्तर भारत की जैन परम्परा में कौन-कौन से जैन आचार्यों से कौन-कौन से गण, कुल और शाखाओं का जन्म हुआ, इसका सुविस्तृत विवरण संकलित है। ये सभी गण कुल और शाखायें गुरु-परम्परा विशेष से ही सम्बद्ध रही हैं। इनके धार्मिक विधि-विधानों में किसी प्रकार का मतभेद था या नहीं, यदि मतभेद था, तो किस प्रकार का था ? इन बातों की जानकारी हेतु हमारे पास कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है।

निर्गन्ध श्रमण संघ के जो श्रमण दक्षिण में चले गये थे, वे भी कालान्तर में गणों एवं अन्वयों में विभाजित हुए। यह परम्परा दिगम्बर सम्प्रदाय के रूप में जानी गयी।

उत्तर भारत के निर्गन्ध संघ में लगभग दूसरी शती में वस्त्र के प्रश्न को लेकर संघ भेद हुआ और एक नवीन परम्परा का उद्भव हुआ जो आगे चलकर कोटिक या यापनीय नाम से प्रसिद्ध हुई।<sup>5</sup> पीछे से जो संघभेद हुए उनके मूल में सैद्धान्तिक विधि-विधान सम्बन्धी भेद अवश्य विद्यमान रहे, किन्तु यहाँ इन सब की चर्चा न करते हुए मात्र श्वेताम्बर सम्प्रदाय में समय-समय पर उत्पन्न एवं विकसित हुए विभिन्न गच्छों की चर्चा प्रस्तुत की गयी है।

उत्तर और पश्चिम भारत का श्वेताम्बर संघ प्रारम्भ में तो वारणगण, मानवगण, उत्तरवल्लिसहगण आदि अनेक गणों और उनकी कुल-शाखाओं में विभक्त था, किन्तु कालान्तर में कोटिक गण को छोड़कर शेष सभी कुल और शाखायें समाप्त हो गयीं। आज के श्वेताम्बर मुनिजन स्वयं को इसी कोटिकगण से सम्बद्ध मानते हैं। इस गण से भी अनेक शाखायें अस्तित्व में आयीं। उनमें उच्चनागरी, विद्याधरी, वज्री, माध्यमिका, नागिल, पद्मा, जयति आदि शाखायें प्रमुख रूप से प्रचलित रहीं।<sup>6</sup> इन्हीं से आगे चलकर नागेन्द्र, निवृत्ति, चन्द्र और विद्याधर ये चार कुल अस्तित्व में आये।<sup>7</sup> पूर्व मध्ययुगीन श्वेताम्बर गच्छों का इन्हीं से प्रादुर्भाव हुआ।

ईस्वी सन् की छठीं-सातवीं शताब्दी से ही श्वेताम्बर श्रमण परम्परा को पश्चिमी भारत [गुजरात और राजस्थान] में राजाश्रय प्राप्त होने से इसका विशेष प्रचार-प्रसार हुआ, फलस्वरूप वहाँ अनेक नये-नये जिनालयों

का निर्माण होने लगा। जैन मुनि भी अब वनों को छोड़कर जिनालयों के साथ संलग्न भवनों [ चैत्यालयों ] में निवास करने लगे। स्थिरवास एवं जिनालयों के स्वामित्व प्राप्त होने के फलस्वरूप इन श्रमणों में अन्य दोषों के साथ-साथ परस्पर विद्वेष एवं अहंभाव का भी अंकुरण हुआ। इनमें अपने-अपने अनुयायियों की संख्या में वृद्धि करने की होड़ सी लगी हुई थी। इन्हीं परिस्थितियों में श्वेताम्बर श्रमणसंघ विभिन्न नगरों, जातियों, घटनाविशेष तथा आचार्यविशेष के आधार पर विभाजित होने लगा। विभाजन की यह प्रक्रिया दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में तेजी से प्रारम्भ हुई, जिसका क्रम आगे भी जारी रहा।

श्वेताम्बर श्रमणों का एक ऐसा भी वर्ग था जो श्रमणावस्था में सुविधावाद के पनपने से उत्पन्न शिथिलाचार का कट्टर विरोधी था। आठवीं शताब्दी में हुए आचार्य हरिभद्र ने अपने समय के चैत्यवासी श्रमणों के शिथिलाचार का अपने ग्रन्थ सम्बोधप्रकरण<sup>8</sup> में विस्तृत वर्णन किया है और इनके विरुद्ध अपनी आवाज उठायी है। चैत्यवासियों पर इस विरोध का प्रतिकूल असर पड़ा और उन्होंने सुविहितमार्गीय श्रमणों का तरह-तरह से विरोध करना प्रारम्भ किया। गुर्जर प्रदेश में तो उन्होंने चावड़ा वंशीय शासक वनराज चावड़ा से राजाजा जारी करा सुविहितमार्गीयों का प्रवेश ही निषिद्ध करा दिया। फिर भी सुविहितमार्गीय श्रमण शिथिलाचारी श्रमणों के आगे नहीं झुके और उन्होंने चैत्यवास का विरोध जारी रखा। अन्ततः चौलुक्य नरेश दुर्लभराज [ वि.सं. 1066-1082 ] की राजसभा में चन्द्रकुलीन वर्द्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि ने चैत्यवासियों को शास्त्रार्थ में पराजित कर गुर्जरभूमि में सुविहितमार्गीयों के विहार और प्रवास को निष्कटक बना दिया।<sup>9</sup>

कालदोष से सुविहितमार्गीय श्रमण भी परस्पर मतभेद के शिकार होकर समय-समय पर बिखरते रहे, फलस्वरूप नये-नये गच्छ (समुदाय) अस्तित्व में आते रहे। जैसे चन्द्रकुल की एक शाखा वडगच्छ से पूर्णमागच्छ, सार्धपूर्णमागच्छ, सत्यपुरीयशाखा आदि अनेक शाखायें-उपशाखायें अस्तित्व में आयीं। इसी प्रकार खरतरगच्छ से भी कई उपशाखाओं का उदय हुआ।

जैसा कि लेख के प्रारम्भ में कहा जा चुका है एक स्थान पर स्थायी रूप से रहने की प्रवृत्ति से मुनियों एवं श्रावकों के मध्य स्थायी सम्पर्क बना, फलस्वरूप उनकी प्रेरणा से नये-नये जिनालयों एवं वसतियों का द्रुतगति से निर्माण होने लगा। स्थानीयकरण की इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप स्थानों के नाम पर ही कुछ गच्छों का भी नामकरण होने लगा, यथा कोरटा नामक स्थान से कोरंटगच्छ, नाणा नामक स्थान से नाणकीयागच्छ, ब्रह्मण (आधुनिक वरमाण) नामक स्थान से ब्रह्माणगच्छ, संडेर (वर्तमान सांडेराव) नामक स्थान से संडेरगच्छ, हरसोर नामक स्थान से हर्षपुरीयगच्छ, पल्ली (वर्तमान पाली) नामक स्थान से पल्लीवालगच्छ आदि अस्तित्व में आये। यद्यपि स्थानविशेष के आधार पर ही इन गच्छों का नामकरण हुआ था, किन्तु सम्पूर्ण पश्चिमी भारत के प्रमुख जैन तीर्थों एवं नगरों में इन गच्छों के अनुयायी श्रमण एवं श्रावक विद्यमान थे। यह बात सम्पूर्ण पश्चिमी भारत के विभिन्न स्थानों में इनके आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठापित प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण लेखों से ज्ञात होती है।

कुछ गच्छ तो घटनाविशेष के कारण ही अस्तित्व में आये। जैसे चन्द्रकुल के आचार्य धनेश्वरसूरि [ वादमहार्णव के रचनाकार अभयदेवसूरि के शिष्य ] साधुजीवन के पूर्व कर्दम नामक राजा थे, इसी आधार पर उनके शिष्य राजगच्छीय कहलाये।

इसी प्रकार आचार्य उद्योतनसूरि ने आबू के समीप स्थित टेली नामक ग्राम में वटवृक्ष के नीचे सर्वदेवसूरि आदि 8 मुनियों को एक साथ आचार्यपद प्रदान किया। वटवृक्ष के आधार पर इन मुनिजनों का शिष्य परिवार वटगच्छीय कहलाया। वटवृक्ष के समान ही इस गच्छ की अनेक शाखायें-उपशाखायें अस्तित्व में आयीं, अतः इसका एक नाम बृहद्गच्छ भी पड़ गया। इसी प्रकार खरतरगच्छ, आगमिकागच्छ, पूर्णमागच्छ, सार्धपूर्णमागच्छ, अंचलगच्छ, पिप्लगच्छ आदि भी घटनाविशेष से ही अस्तित्व में आये।

चाहमाननरेश अणोराज [ ई. सन् 1139-1153 ] की राजसभा में दिगम्बर आचार्य कुलचन्द्र को शास्त्रार्थ में पराजित करने वाले आचार्य धर्मघोषसूरि राजगच्छीय आचार्य शीलभद्रसूरि के शिष्य थे। चूँकि ये अपने जीवनकाल में यथेष्ट प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे, अतः इनकी मृत्यु के पश्चात् इनकी शिष्य संतति धर्मघोषगच्छीय कहलायी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न कारणों से श्वेताम्बर श्रमणसंघ का विभाजन होता रहा और नये-नये गच्छ अस्तित्व में आते रहे। इन गच्छों का इतिहास जैनधर्म के इतिहास का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अध्याय है, परन्तु इस ओर अभी तक विद्वानों का ध्यान बहुत कम ही है। आज से लगभग 40 वर्ष पूर्व महान् साहित्यसेवी स्व. श्री अगारचन्द जी नाहटा ने यतीन्द्रसूरि अभिनन्दनग्रन्थ<sup>10</sup> में "जैन श्रमणों के इतिहास पर संक्षिप्त प्रकाश" नामक लेख प्रकाशित किया था और लेख के प्रारम्भ में ही विद्वानों से यह अपेक्षा की थी कि वे इस कार्य के लिये आगे आयें। स्व. नाहटा जी के उक्त कथन को आदेश मानते हुए प्रो. एम. ए. ढांकी और प्रो. सागरमल्ल जैन की प्रेरणा और सहयोग से मैंने श्वेताम्बर श्रमणों के गच्छों के इतिहास लेखन का कार्य प्रारम्भ किया है। यद्यपि मैंने साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर विभिन्न गच्छों का इतिहास लिखने का प्रयास किया है, किन्तु प्रस्तुत लेख में गच्छों का मात्र परिचयात्मक विवरण आवश्यक होने से नाहटा जी के उक्त लेख का अनुसरण करते हुए गच्छों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है।

अंचलगच्छ अपरनाम विधिपक्ष वि.सं. 1159 या 1169 में उपाध्याय विजयचन्द्र [ बाद में आर्यरक्षितसूरि ] द्वारा विधिपक्ष का पालन करने के कारण उनकी शिष्य-संतति विधिपक्षीय कहलायी।<sup>11</sup> प्रचलित मान्यता के अनुसार इस गच्छ के अनुयायी श्रावकों द्वारा मुंहपत्ती के स्थान पर वस्त्र के झोर (अंचल) से वन्दन करने के कारण अंचलगच्छ नाम प्रचलित हुआ। इस गच्छ में अनेक विद्वान् आचार्य और मुनिजन हुए हैं, परन्तु उनमें से कुछ आचार्यों की कृतियाँ आज उपलब्ध होती हैं। इस गच्छ से सम्बद्ध बड़ी संख्या में प्रतिमालेख प्राप्त होते हैं।<sup>12</sup> इनमें प्राचीनतम लेख वि.सं. 1206 का है। अपने उदय से लेकर आज तक इस गच्छ की अविच्छिन्न परम्परा विद्यमान है।

आगमिकगच्छ<sup>13</sup> पूर्णिमापक्षीय शीलगुणसूरि और उनके शिष्य देवभद्रसूरि द्वारा जीवदयाणं तक का शक्रस्तव, 67 अक्षरों का परमेष्ठीमंत्र और तीनस्तुति से देववन्दन आदि बातों में आगमों का समर्थन करने के कारण वि.सं. 1214 या वि.सं. 1250 में आगमिकगच्छ या त्रिस्तुतिकमत की उत्पत्ति हुई। इस गच्छ में यशोभद्रसूरि, सर्वाणंदसूरि, विजयसिंहसूरि, अमरसिंहसूरि, हेमरत्नसूरि, अमररत्नसूरि, सोमप्रभसूरि, आनन्दप्रभसूरि आदि कई प्रभावक आचार्य हुए जिन्होंने साहित्यसेवा और धार्मिक क्रियाकलापों से श्वेताम्बर श्रमणसंघ को जीवन्त बनाये रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

आगमिकगच्छ से सम्बद्ध विपुल परिमाण में आज साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्य उपलब्ध होते हैं। साहित्यिक साक्ष्यों के अन्तर्गत इस गच्छ के मुनिजनों द्वारा लिखे गये ग्रन्थों की प्रशस्तियाँ तथा कुछ पट्टावलियाँ आदि हैं। इस गच्छ से सम्बद्ध लगभग 200 प्रतिमालेख प्राप्त होते हैं जो वि.सं. 1420 से लेकर वि.सं. 1683 तक के हैं। उपलब्ध साक्ष्यों से इस गच्छ की दो शाखाओं-धंघूकीया और विलाबंडीया का पता चलता है।

उपकेशगच्छ<sup>14</sup> पूर्वमध्यकालीन और मध्यकालीन श्वेताम्बर परम्परा में उपकेशगच्छ का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। जहाँ अन्य सभी गच्छ भगवान महावीर से अपनी परम्परा जोड़ते हैं, वहीं उपकेशगच्छ अपना सम्बन्ध भगवान पार्श्वनाथ से जोड़ता है। अनुश्रुति के अनुसार इस गच्छ का उत्पत्ति स्थल उपकेशपुर (वर्तमान ओसिया-राजस्थान) माना जाता है। परम्परानुसार इस गच्छ के आदिम आचार्य रत्नप्रभसूरि ने वीर सम्वत् 70 में ओसवालगच्छ की स्थापना की, परन्तु किसी भी प्राचीन ऐतिहासिक साक्ष्य से इस बात की पुष्टि नहीं होती। ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर ओसवालों की स्थापना और इस गच्छ की उत्पत्ति का समय ई. सन् की

आठवीं शती के पूर्व नहीं माना जा सकता।

उपकेशगच्छ में कक्कसूरि, देवगुप्तसूरि और सिद्धसूरि इन तीन पट्टधर आचार्यों के नामों की प्रायः पुनरावृत्ति होती रही है, जिससे प्रतीत होता है कि इस गच्छ के अनुयायी श्रमण चैत्यवासी रहे होंगे। इस गच्छ में कई प्रभावक और विद्वान् आचार्य हो चुके हैं जिन्होंने साहित्योपासना के साथ-साथ नवीन जिनालयों के निर्माण, प्राचीन जिनालयों के जीर्णोद्धार तथा जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठापना द्वारा पश्चिम भारत में श्वेताम्बर श्रमण परम्परा को जीवन्त बनाये रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

अन्यान्य गच्छों की भाँति उपकेशगच्छ से भी कई अवान्तर शाखाओं का जन्म हुआ। जैसे वि.सं. 1266/ई.सन् 1210 में द्विवेदनीक शाखा, वि.सं. 1308/ई.सन् 1252 में खरतपाशाखा तथा वि.सं. 1498/ई.सन् 1442 में खादिरीशाखा अस्तित्व में आयी। इसके अतिरिक्त इस गच्छ की दो अन्य शाखाओं-ककुदाचार्यसंतानीय और सिद्धाचार्यसंतानीय का भी पता चलता है, किन्तु इनकी उत्पत्तिकाल के सम्बन्ध में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती।

उपकेशगच्छ के इतिहास से सम्बद्ध पर्याप्त संख्या में इस गच्छ के मुनिजनों के कृतियों की प्रशस्तियाँ, मुनिजनों के अध्ययनार्थ या उनकी प्रेरणा से प्रतिलिपि करायी गयी प्राचीन ग्रन्थों की दाताप्रशस्तियाँ तथा दो प्रबन्ध [ उपकेशगच्छप्रबन्ध और नाभिनन्दनजिनोद्धारप्रबन्ध - रचनाकाल वि.सं. 1393/ई.सन् 1336 ] और उपकेशगच्छ की कुछ पट्टावलियाँ उपलब्ध हैं।

इस गच्छ के मुनिजनों द्वारा प्रतिष्ठापित बड़ी संख्या में जिनप्रतिमायें प्राप्त होती हैं जिनमें से अधिकांश लेखयुक्त हैं। इसके अतिरिक्त इस गच्छ के मुनिजनों की प्रेरणा से निर्मित सर्वतोभद्रयंत्र, पंचकल्याणकपट्ट, तीर्थङ्करों के गणधरों की चरणपादुका आदि पर भी लेख उत्कीर्ण हैं। ये सब लेख वि.सं. 1011 से वि.सं. 1918 तक के हैं। उपकेशगच्छ के इतिहास के लेखन में उक्त साक्ष्यों का विशिष्ट महत्त्व है।

उपकेशगच्छीय साक्ष्यों के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि वि.सं. की 10वीं शताब्दी से लेकर वि.सं. की 16वीं शताब्दी तक इस गच्छ के मुनिजनों का समाज पर विशेष प्रभाव रहा, किन्तु इसके पश्चात् इसमें न्यूनता आने लगी, फिर भी 20वीं शती के प्रारम्भ तक निर्विवादरूप से इस गच्छ का स्वतन्त्र अस्तित्व बना रहा।<sup>15</sup>

काशहृद-गच्छ अर्बुदगिरी की तलहटी में स्थित काशहृद (वर्तमान कासीन्द्रा या कायन्द्रा) नामक स्थान से इस गच्छ की उत्पत्ति मानी जाती है। जालिहरगच्छ के देवप्रभसूरि द्वारा रचित पद्मप्रभघरित [ रचनाकाल वि.सं. 1254/ई.सन् 1198 ] की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि काशहृद और जालिहर ये दोनों विद्याधरगच्छ की शाखायें हैं।<sup>16</sup> यह गच्छ कब अस्तित्व में आया, इस गच्छ के आदिम आचार्य कौन थे, इस बारे में कोई सूचना प्राप्त नहीं होती। प्रश्नशतक और ज्योतिषघतुर्विंशतिका के रचनाकार नरचन्द्र उपाध्याय इसी गच्छ के थे। प्रश्नशतक का रचनाकाल वि.सं. 1324/ई.सन् 1268 माना जाता है। विक्रमघरित [ रचनाकाल वि.सं. 1471/ई.सन् 1415 के आस-पास ] के रचनाकार उपाध्याय देवमूर्ति इसी गच्छ के थे।<sup>17</sup> इस गच्छ से सम्बद्ध कुछ प्रतिमालेख भी प्राप्त होते हैं जो वि.सं. 1222 से वि.सं. 1416 तक के हैं।

उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर विक्रम सम्वत् की 13वीं शती से 15वीं शती के अन्त तक इस गच्छ का अस्तित्व सिद्ध होता है। इस गच्छ से सम्बद्ध साक्ष्यों की विरलता को देखते हुए यह माना जा सकता है कि अन्य गच्छों की अपेक्षा इस गच्छ के अनुयायी श्रावकों और श्रमणों की संख्या अल्प थी। 16वीं शती से इस गच्छ से सम्बद्ध साक्ष्यों के नितान्त अभाव से यह कहा जा सकता है कि इस गच्छ के अनुयायी मुनिजन और श्रावक किन्हीं अन्य बड़े गच्छ में सम्मिलित हो गये होंगे।

कृष्णर्षिगच्छ<sup>18</sup> प्राक्मध्ययुगीन और मध्ययुगीन श्वेताम्बर आम्नाय के गच्छों में कृष्णर्षिगच्छ भी एक है। आचार्य वटेश्वर क्षमाश्रमण के प्रशिष्य और यक्षमहत्तर के शिष्य कृष्णमुनि की शिष्य संतति अपने गुरु के नाम पर कृष्णर्षिगच्छीय कहलायी। धर्मोपदेशमालाविवरण [रचनाकाल वि.सं. 915/ई.सन् 859] के रचयिता जयसिंहसूरि, प्रभावकशिरोमणि प्रसन्नचन्द्रसूरि, निस्पृहशिरोमणि महेन्द्रसूरि, कुमारपालचरित [वि.सं. 1422/ई.सन् 1366] के रचनाकार जयसिंहसूरि, हम्मिरमहाकाव्य [रचनाकाल वि.सं. 1444/ई.सन् 1386] और रम्भाभंजरीनाटिका के कर्ता नयचन्द्रसूरि इसी गच्छ के थे। इस गच्छ में जयसिंहसूरि, प्रसन्नचन्द्रसूरि, नयचन्द्रसूरि इन तीन पट्टधर आचार्यों के नामों की पुनरावृत्ति मिलती है, जिससे अनुमान होता है कि यह चैत्यवासी गच्छ था। इस गच्छ से सम्बद्ध पर्याप्त संख्या में अभिलेखीय साक्ष्य भी प्राप्त हुए हैं जो वि.सं. 1287 से वि.सं. 1616 तक के हैं।

अभिलेखीय साक्ष्यों से इस गच्छ की कृष्णर्षितपाशाखा का भी उल्लेख प्राप्त होता है। इस शाखा के वि.सं. 1450 से 1473 तक के लेखों में पुण्यप्रभसूरि, वि.सं. 1483-1487 के लेखों में शिष्य जयसिंहसूरि तथा वि.सं. 1503-1508 के लेखों में जयसिंहसूरि के प्रथम पट्टधर जयशेखरसूरि तथा वि.सं. 1510 के एक लेख में उनके द्वितीय पट्टधर कमलचन्द्रसूरि का प्रतिमाप्रतिष्ठापक के रूप में उल्लेख प्राप्त होता है, किन्तु इस शाखा के प्रवर्तक कौन थे, यह शाखा कब अस्तित्व में आयी, इस सम्बन्ध में कोई सूचना प्राप्त नहीं होती।

वि.सं. की 17वीं शती के पश्चात् कृष्णर्षिगच्छ से सम्बद्ध साक्ष्यों का अभाव है। इससे प्रतीत होता है कि इस समय तक इस गच्छ का अस्तित्व समाप्त हो चुका था।

कोरंटगच्छ<sup>19</sup> आबू के निकट कोरटा [प्राचीन कोरंट] नामक स्थान से इस गच्छ की उत्पत्ति मानी जाती है। उपकेशगच्छ की एक शाखा के रूप में इस गच्छ की मान्यता है। इस गच्छ के पट्टधर आचार्यों को कक्कसूरि, सर्वदेवसूरि और नन्नसूरि ये तीन नाम पुनः पुनः प्राप्त होते रहे। इस गच्छ का सर्वप्रथम उल्लेख वि.सं. 1201 के एक प्रतिमालेख में और अन्तिम उल्लेख वि.सं. 1619 में प्रतिलिपि की गयी राजप्रशनीयसूत्र की दाताप्रशस्ति में प्राप्त होता है। इस गच्छ से सम्बद्ध मात्र कुछ दाताप्रशस्तियाँ तथा बड़ी संख्या में प्रतिमालेख प्राप्त होते हैं। ये लेख वि.सं. 1612 तक के हैं। लगभग 400 वर्षों के अपने अस्तित्वकाल में इस गच्छ के अनुयायी श्रमण शास्त्रों के पठन-पाठन की अपेक्षा जिनप्रतिमा की प्रतिष्ठा में अधिक सक्रिय रहे।

खंडिलगच्छ<sup>20</sup> इस गच्छ के कई नाम मिलते हैं यथा भावडारगच्छ, कालिकाचार्यसंतानीय, भावडगच्छ, भावदेवाचार्यगच्छ, खंडिल्लगच्छ आदि। प्रभावकचरित में चन्द्रकुल की एक शाखा के रूप में इस गच्छ का उल्लेख मिलता है। इस गच्छ में पट्टधर आचार्यों को भावदेवसूरि, विजयसिंहसूरि, वीरसूरि और जिनदेवसूरि ये चार नाम पुनः पुनः प्राप्त होते रहे। पार्श्वनाथचरित [रचनाकाल वि.सं. 1412/ई.सन् 1356] के रचनाकार भावदेवसूरि इसी गच्छ के थे। इसकी प्रशस्ति के अन्तर्गत उन्होंने अपनी गुरु-परम्परा दी है, जो इस प्रकार है--

भावदेवसूरि  
|  
विजयसिंहसूरि  
|  
वीरसूरि  
|  
जिनदेवसूरि  
|

भाक्देवसूरि

|

विजयदेवसूरि

|

वीरसूरि

|

जिनदेवसूरि

|

यशोभद्रसूरि

भाक्देवसूरि

[ वि.सं. 1412/ई.सन् 1356 में पार्श्वनाथचरित के रचनाकार ]

कालकाचार्यकथा, यतिदिनधर्या, अलंकारसार, भक्तामरटीका आदि के कर्ता भाक्देवसूरि को ब्राउन ने पार्श्वनाथचरित के कर्ता उपरोक्त भाक्देवसूरि से अभिन्न माना है।

इस गच्छ से सम्बद्ध अनेक प्रतिमालेख मिले हैं जो वि.सं. 1196 से वि.सं. 1664 तक के हैं। निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि वि.सं. की 12वीं शती में यह गच्छ अस्तित्व में आया और वि.सं. की 17वीं शती के अन्तिमचरण तक विद्यमान रहा। इसके पश्चात् इस गच्छ का कोई उल्लेख न मिलने से यह प्रतीत होता है कि इस गच्छ के अनुयायी अन्य किन्हीं गच्छों में सम्मिलित हो गये होंगे।

खरतरगच्छ चन्द्रकुल के आचार्य वर्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि ने चौलुक्य नरेश दुर्लभराज की राजसभा में शास्त्रार्थ में चैत्यवासियों को परास्त किया, जिससे प्रसन्न होकर राजा द्वारा उन्हें 'खरतर' का विरुद्ध प्राप्त हुआ। इस घटना से गुर्जरभूमि में सुविहितमार्गीय श्रमणों का विहार प्रारम्भ हो गया। जिनेश्वरसूरि की शिष्य-सन्तति खरतरगच्छीय कहलायी। इस गच्छ में अनेक प्रभावशाली और प्रभावक आचार्य हुए और आज भी हैं। इस गच्छ के आचार्यों ने साहित्य की प्रत्येक विधाओं को अपनी लेखनी द्वारा समृद्ध किया, साथ ही जिनालयों के निर्माण, प्राचीन जिनालयों के पुनर्निर्माण एवं जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा में भी सक्रियरूप से भाग लिया।<sup>21</sup>

युगप्रधानाचार्यगुर्वावली<sup>22</sup> में इस गच्छ के 11वीं शती से 14वीं शती के अन्त तक के आचार्यों का जीवनचरित्र दिया गया है जो न केवल इस गच्छ के अपितु भारतवर्ष के तत्कालीन राजनैतिक इतिहास की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त इस गच्छ से सम्बद्ध अनेक विज्ञापितत्र, पट्टावलियाँ, गुर्वावलियाँ, ऐतिहासिक रास, ऐतिहासिक गीत आदि मिलते हैं जो इसके इतिहास के अध्ययन के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। अन्यान्य गच्छों की भाँति इस गच्छ की भी कई शाखायें अस्तित्व में आयीं, जो इस प्रकार हैं --

1. मधुकरा शाखा -- आचार्य जिनवल्लभसूरि के समय वि.सं. 1167/ई.सन् 1111 में यह शाखा अस्तित्व में आयी।

2. रुद्रपल्लीयशाखा -- वि.सं. 1204 में आचार्य जिनेश्वरसूरि से यह शाखा अस्तित्व में आयी। इस शाखा में अनेक विद्वान् आचार्य हुए। श्री अगारचन्द नाहटा के अनुसार वि.सं. की 17वीं शती तक इस शाखा का अस्तित्व रहा।

3. लघुखरतरशाखा -- वि.सं. 1331/ई.सन् 1275 में आचार्य जिनसिंहसूरि से इस शाखा का उदय

हुआ। अन्यान्य ग्रन्थों के रचनाकार, सुल्तान मुहम्मद तुगलक के प्रतिबोधक शासनप्रभावक आचार्य जिनप्रभसूरि इसी शाखा के थे। वि.सं. की 18वीं शती तक इस शाखा का अस्तित्व रहा।

4. बेगड़ शाखा -- वि.सं. 1422 में यह शाखा अस्तित्व में आयी। जिनेश्वरसूरि इस शाखा के प्रथम आचार्य हुए।

5. पिप्पलकशाखा -- वि.सं. 1474 में जिनवर्धनसूरि द्वारा इस शाखा का उदय हुआ। श्री नाहटा के अनुसार पिप्पलक नामक स्थान से सम्बद्ध होने से यह पिप्पलकशाखा के नाम से जाना गया।

इसी नाम की एक शाखा वडगच्छीय शांतिसूरि के शिष्य महेन्द्रसूरि, विजयसिंहसूरि आदि के द्वारा वि.सं. 1181/ई.सन् 1125 में अस्तित्व में आयी।

6. आद्यपक्षीयशाखा -- वि.सं. 1564 में आचार्य जिनदेवसूरि से यह शाखा अस्तित्व में आयी। इस शाखा की एक गद्दी पाली में थी।

7. भावहर्षीयाशाखा -- वि.सं. 1621 में भावहर्षसूरि से इसका उदय हुआ। इस शाखा की एक गद्दी बालोतरा में है।

8. लघुआचार्यशाखा -- आचार्य जिनसागरसूरि से वि.सं. 1686 में यह शाखा अस्तित्व में आयी। इसकी गद्दी बीकानेर में विद्यमान है।

9. जिनरंगसूरिशाखा -- यह शाखा वि.सं. 1700 में जिनरंगसूरि से प्रारम्भ हुई। इसकी गद्दी वर्तमान में लखनऊ में है।

10. श्रीसारीयशाखा -- वि.सं. 1700 के लगभग यह शाखा अस्तित्व में आयी, परन्तु शीघ्र ही नामशेष हो गयी।

11. मंडोवराशाखा -- जिनमहेन्द्रसूरि द्वारा वि.सं. 1892 में मंडोवरा नामक स्थान से इसका उदय हुआ। इसकी एक गद्दी जयपुर में विद्यमान है।

श्रीअगरचन्द्र नाहटा और श्री भंवरलाल नाहटा ने इस गच्छ की साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों का न केवल संकलन और प्रकाशन किया है, अपितु उनका सम्यक् अध्ययन भी समाज के सम्मुख रखा है।

चन्द्रगच्छ चन्द्रकुल ही आगे चलकर चन्द्रगच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। राजगच्छ, वडगच्छ, खरतरगच्छ, पूर्णतिल्लगच्छ, भावडारगच्छ, पूर्णिमागच्छ आदि कई गच्छ चन्द्रकुल से ही अस्तित्व में आये। इस गच्छ से सम्बद्ध कई प्रतिमालेख मिलते हैं जो वि.सं. 1072 से वि.सं. 1552 तक के हैं। मुनिपतिघरित्र [रचनाकाल वि.सं. 1005] एवं जिनशतककाव्य [रचनाकाल वि.सं. 1025] के रचयिता जम्बूकवि अपरनाम जम्बूनाग इसी गच्छ के थे। सनत्कुमारघरित के रचनाकार चन्द्रसूरि भी इसी गच्छ के थे। इसी गच्छ के शिवप्रभसूरि के शिष्य श्रीतिलकसूरि ने वि.सं. 1261 में प्रत्येकबुद्धघरित की रचना की। वसन्तविलास के रचनाकार बालचन्द्रसूरि, प्रसिद्ध ग्रन्थ संशोधक प्रद्युम्नसूरि, शीलवतीकथा के रचनाकार उदयप्रभसूरि इसी गच्छ के थे।<sup>23</sup> इस गच्छ के सम्बन्ध में विशेष विवरण अन्वेषणीय है।

चैत्रगच्छ मध्ययुगीन श्वेताम्बर गच्छों में चैत्रगच्छ भी एक है। चैत्रपुर नामक स्थान से इस गच्छ की उत्पत्ति मानी जाती है। इस गच्छ के कई नाम मिलते हैं यथा -- चैत्रवालगच्छ, चित्रवालगच्छ, चित्रपल्लीयगच्छ, चित्रगच्छ आदि। धनेश्वरसूरि इस गच्छ के आदिम आचार्य माने जाते हैं। इनके पट्टधर भुवनचन्द्रसूरि हुए जिनके प्रशिष्य

और देवभद्रसूरि के शिष्य जगच्चन्द्रसूरि से वि.सं. 1285/ई. सन् 1229 में तपागच्छ का प्रादुर्भाव हुआ। देवभद्रसूरि के अन्य शिष्यों से चैत्रगच्छ की अविच्छिन्न परम्परा जारी रही। सम्यकत्वकौमुदी [रचनाकाल वि.सं. 1504/ई. सन् 1448] और भक्तामरस्तवटीका के रचनाकार गुणाकरसूरि इसी गच्छ के थे।<sup>24</sup>

चैत्रगच्छ से सम्बद्ध बड़ी संख्या में अभिलेखीय साक्ष्य प्राप्त होते हैं, जो वि.सं. 1265 से वि.सं. 1591 तक के हैं। इस गच्छ से कई अवान्तर शाखाओं का जन्म हुआ, जैसे -- भर्तृपुरीयशाखा, धारणपद्रीयशाखा, चतुर्दशीयशाखा, चान्द्रसामीयशाखा, सलषणपुराशाखा, कम्बोइयाशाखा, अष्टापदशाखा, शार्दूलशाखा आदि।

जाल्योधरगच्छ विद्याधरगच्छ की द्वितीयशाखा के रूप में इस गच्छ का उदय हुआ। यह शाखा कब और किस कारण अस्तित्व में आयी, इसके पुरातन आचार्य कौन थे, साक्ष्यों के अभाव में ये प्रश्न अनुत्तरित हैं। इस गच्छ से सम्बद्ध मात्र दो प्रशस्तियाँ -- नन्दिपददुर्गवृत्ति की दाताप्रशस्ति [प्रतिलेखनकाल वि.सं. 1226/ई.सन् 1160] और पद्मप्रभचरित [रचनाकाल वि.सं. 1254/ई.सन् 1198] की प्रशस्ति ही मिलती है। पद्मप्रभचरित की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि यह गच्छ विद्याधरगच्छ की एक शाखा थी।<sup>25</sup>

इस गच्छ से सम्बद्ध कुछ अभिलेखीय साक्ष्य भी मिलते हैं जो वि.सं. 1213 से वि.सं. 1423 तक के हैं।<sup>26</sup> ग्रन्थ प्रशस्तियों और अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर इस गच्छ के मुनिजनों के गुरु-परम्परा की एक तालिका बनती है, जो इस प्रकार है --

बालचन्द्रसूरि

|

गुणभद्रसूरि [वि.सं. 1226 की नन्दीदुर्गपदवृत्ति में उल्लिखित]

|

सर्वाणंदसूरि [पार्श्वनाथचरित-अनुपलब्ध के रचनाकार]

|

धर्मघोषसूरि

|

देवसूरि [वि.सं. 1254/ई.सन् 1198 में पद्मप्रभचरित के रचनाकार]

|

हरिभद्रसूरि [वि.सं. 1296/ई.सन् 1240 प्रतिमालेख - घोघा]

|

|  
हरिप्रभसूरि

|  
चन्द्रसूरि

|

विबुधप्रभसूरि [वि.सं. 1392 प्रतिमालेख]

|  
?

|

|

ललितप्रभसूरि [वि.सं. 1423/ई.सन् 1367 प्रतिमालेख]

जीरापल्लीगच्छ राजस्थान प्रान्त के अर्बुदमण्डल के अन्तर्गत जीरावला नामक प्रसिद्ध स्थान है। यहाँ पार्श्वनाथ का एक महिम्न जिनालय विद्यमान है जो जीरावलापार्श्वनाथ के नाम से जाना जाता है। बृहद्गच्छ



पट्टावली में उसकी एक शाखा के रूप में इस गच्छ का उल्लेख मिलता है। जीरावला नामक स्थान से सम्बद्ध होने के कारण यह शाखा जीरापल्लीगच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस गच्छ से सम्बद्ध कई प्रतिमालेख मिलते हैं जो वि.सं. 1406 से वि.सं. 1515 तक के हैं।<sup>26</sup> इसके सम्बन्ध में विशेष अध्ययन अपेक्षित है।

तपागच्छ चैत्रगच्छीय आचार्य भुवनचन्द्रसूरि के प्रशिष्य और देवभद्रसूरि के शिष्य जगच्चन्द्रसूरि को आघाट में उग्र तप करने के कारण वि.सं. 1285/ई.सन् 1229 में 'तपा' विरुद्ध प्राप्त हुआ, इसी कारण उनकी शिष्य सन्तति तपागच्छीय कहलायी।<sup>27</sup> अपने जन्म से लेकर आज तक इस गच्छ की अविच्छिन्न परम्परा विद्यमान है और इसका प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा है। इस गच्छ में अनेक प्रभावक आचार्य और विद्वान् मुनिजन हो चुके हैं और आज भी हैं। इस गच्छ से सम्बद्ध बड़ी संख्या में साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्य प्राप्त होते हैं जिनका सम्यक् अध्ययन आवश्यक है। अन्य गच्छों की भाँति इस गच्छ की भी कई अवान्तर शाखायें अस्तित्व में आयीं, जैसे-- वृद्धपोषालिक, लघुपोषालिक, विजयाणंदसूरिशाखा, विमलशाखा, विजयदेवसूरिशाखा, सागरशाखा, रत्नशाखा, कमलकलशाखा, कुतुबपुराशाखा, निगमशाखा आदि।

थारापदगच्छ<sup>29</sup> प्राक्मध्ययुगीन और मध्ययुगीन निर्गन्धधर्म के श्वेताम्बर आम्नाय के गच्छों में इस गच्छ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। थारापद (वर्तमान थराद, बनासकांठा मण्डल - उत्तर गुजरात) नामक स्थान से इस गच्छ का प्रादुर्भाव हुआ। इस गच्छ में 11वीं शती के प्रारम्भ में हुए आचार्य पूर्णभद्रसूरि ने वटेश्वर क्षमाश्रमण को अपना पूर्वज बतलाया है, परन्तु इस गच्छ के प्रवर्तक कौन थे, यह गच्छ कब अस्तित्व में आया, इस बारे में वे मौन हैं। इस गच्छ में ज्येष्ठाचार्य, शान्तिभद्रसूरि 'प्रथम', शीलभद्रसूरि 'प्रथम', सिद्धान्तमहोदधि सर्वदेवसूरि, शान्तिभद्रसूरि 'द्वितीय', पूर्णभद्रसूरि, सुप्रसिद्ध पाइयटीका के रचनाकार वादिवेताल शान्तिसूरि, विजयसिंहसूरि आदि अनेक प्रभावक और विद्वान् आचार्य हुए हैं। षडावश्यकवृत्ति [रचनाकाल वि.सं. 1122] और काव्यालंकारटिप्पण के कर्ता नभिसाधु इसी गच्छ के थे। इस गच्छ से सम्बद्ध अभिलेखीय साक्ष्य भी पर्याप्त संख्या में प्राप्त हुए हैं, जो वि.सं. 1011 से वि.सं. 1536 तक के हैं। इस प्रकार इस गच्छ का अस्तित्व प्रायः 16वीं शती के मध्य तक प्रमाणित होता है। चूँकि इसके पश्चात् इस गच्छ से सम्बद्ध साक्ष्यों का अभाव है। अतः यह माना जा सकता है कि उक्त काल के बाद इस गच्छ का अस्तित्व समाप्त हो गया होगा।

देवानन्दगच्छ देवानन्दसूरि इस गच्छ के प्रवर्तक माने जाते हैं। श्री अगरचन्द्र नाहटा के अनुसार वि.सं. 1194 और वि.सं. 1201 की ग्रन्थ प्रशस्तियों में इस गच्छ का उल्लेख मिलता है।<sup>30</sup> श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई और श्री लालचन्द्र भगवान गांधी ने प्रसिद्ध ग्रन्थ संशोधक और समररादित्यसंक्षेप के कर्ता प्रद्युम्नसूरि को देवानन्दगच्छ से सम्बद्ध बताया है जब कि हीरालाल रसिकलाल कापड़िया और श्री गुलाबचन्द्र चौधरी ने उन्हें चन्द्रगच्छीय बतलाया है। क्या देवानन्दगच्छ चन्द्रगच्छ की ही एक शाखा रही या उससे भिन्न थी, इस सम्बन्ध में अध्ययन की आवश्यकता है। चम्पकसेनरास [रचनाकाल वि.सं. 1630/ई.सन् 1574] के रचयिता महेश्वरसूरिशिष्य इसी गच्छ के थे। इस प्रकार वि.सं. की 12वीं शती से 17वीं शती तक इस गच्छ का अस्तित्व सिद्ध होता है<sup>31</sup>, फिर भी साक्ष्यों की विरलता के कारण इस गच्छ के बारे में विशेष विवरण दे पाना कठिन है।

धर्मघोषगच्छ<sup>32</sup> राजगच्छीय आचार्य शीलभद्रसूरि के एक शिष्य धर्मघोषसूरि अपने समय के अत्यन्त प्रभावक आचार्य थे। नरेशत्रय प्रतिबोधक और दिगम्बर विद्वान् गुणचन्द्र के विजेता के रूप में इनकी ख्याति रही। इनकी प्रशंसा में लिखी गयी अनेक कृतियाँ मिलती हैं, जो इनकी परम्परा में हुए उत्तरकालीन मुनिजनों द्वारा रची गयीं हैं। धर्मघोषसूरि के मृत्योपरान्त इनकी शिष्यसन्तति अपने गुरु के नाम पर धर्मघोषगच्छ के नाम से विख्यात हुई। इस गच्छ में यशोभद्रसूरि, रविप्रभसूरि, उदयप्रभसूरि, पृथ्वीचन्द्रसूरि, प्रद्युम्नसूरि, ज्ञानचन्द्रसूरि आदि कई प्रभावक और विद्वान् आचार्य हुए, जिन्होंने वि.सं. की 12वीं शती से वि.सं. की 17वीं शती के अन्त तक अपनी

साहित्योपासना, तीर्थोद्धार, नूतन जिनालयों के निर्माण की प्रेरणा, जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा आदि द्वारा मध्ययुग में श्वेताम्बर श्रमण परम्परा को चिरस्थायित्व प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

इस गच्छ से सम्बद्ध लगभग 200 अभिलेख मिले हैं जो वि.सं. 1303 से वि.सं. 1691 तक के हैं। ये लेख जिनमन्दिरों के स्तम्भादि और तीर्थकर प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण हैं, जो धर्मघोषगच्छ के इतिहास के अध्ययन के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं।

नागपुरीयतपागच्छ वडगच्छीय आचार्य वादिदेवसूरि के एक शिष्य पद्मप्रभसूरि ने नागौर में वि.सं. 1174 या 1177 में उग्र तप का 'नागौरीतपा' विरुद् प्राप्त किया। उनकी शिष्य संतति 'नागपुरीयतपागच्छ' के नाम से विख्यात हुई।<sup>33</sup> मुनिजिनविजय द्वारा संपादित विविधगच्छीयपट्टावलीसंग्रह और श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई द्वारा लिखित 'जैनगुरुकविओ भाग-2' में इस गच्छ की पट्टावली प्रकाशित हुई है। इसी गच्छ में 16वीं शती में पार्श्वचन्द्रसूरि हुए जिनके नाम पर पार्श्वचन्द्रगच्छ का उदय हुआ जो वर्तमान में भी अस्तित्त्ववान है। इन गच्छों का विशिष्ट अध्ययन अपेक्षित है।

नागेन्द्रगच्छ जिस प्रकार चन्द्रकुल बाद में चन्द्रगच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ, उसी प्रकार नागेन्द्रकुल भी नागेन्द्रगच्छ के नाम से विख्यात हुआ। पूर्व मध्ययुगीन और मध्ययुगीन गच्छों में इस गच्छ का विशिष्ट स्थान रहा। इस गच्छ में अनेक विद्वान् आचार्य हुए हैं। अणहिलपुरपाटन के संस्थापक वनराज चावड़ा के गुरु शीलगुणसूरि इसी गच्छ के थे। उनके शिष्य देवचन्द्रसूरि की एक प्रतिमा पाटन में विद्यमान है। अकोटा से प्राप्त ई. सन् की सातवीं शताब्दी की दो जिनप्रतिमाओं पर नागेन्द्रकुल का उल्लेख मिलता है।<sup>34</sup> महामात्य वस्तुपाल तेजपाल के गुरु विजयसेनसूरि इसी गच्छ के थे। इसी कारण उनके द्वारा बनवाये गये मन्दिरों में मूर्तिप्रतिष्ठा उन्हीं के कर-कमलों से हुई। जिनहर्षगणि द्वारा रचित वस्तुपालचरित [रचनाकाल वि.सं. 1497/ई. सन् 1441] से ज्ञात होता है कि विजयसेनसूरि के उपदेश से ही वस्तुपाल-तेजपाल ने संघयात्राये कीं और ग्रन्थभंडार स्थापित किये तथा जिनमंदिरों का निर्माण कराया। इनके शिष्य उदयप्रभसूरि ने धर्माभ्युदयमहाकाव्य [रचनाकाल वि.सं. 1290/ई. सन् 1234] और उपदेशमालाटीका [रचनाकाल वि.सं. 1299/ई. सन् 1243] की रचना की। इनकी प्रशस्ति में उन्होंने अपनी गुरु-परम्परा का सुन्दर विवरण दिया है जो इस गच्छ के इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वासुपूज्यचरित [रचनाकाल वि.सं. 1299/ई. सन् 1243] के रचयिता वर्धमानसूरि और प्रबन्धचिन्तामणि के रचयिता मेरुतुंगसूरि भी इसी गच्छ के थे। इस गच्छ से सम्बद्ध प्रतिमालेख भी बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं। वि.सं. 1455 के एक धातुप्रतिमालेख के आधार पर श्री अगरचन्दनाहटा ने यह मत व्यक्त किया है कि उस समय तक यह गच्छ उपकेशगच्छ में विलीन हो चुका था।<sup>35</sup> इस गच्छ का भी सम्यक् अध्ययन होना अपरिहार्य है।

नाणकीयगच्छ<sup>36</sup> श्वेताम्बर चैत्यवासी गच्छों में नाणकीय गच्छ का प्रमुख स्थान है। इसके कई नाम मिलते हैं, जैसे -- नाणगच्छ, ज्ञानकीयगच्छ, नाणावालगच्छ आदि। जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट होता है कि अर्बुदमण्डल में स्थित नाणा नामक स्थान से यह गच्छ अस्तित्त्व में आया। शातिसूरि इस गच्छ के आदिम आचार्य माने जाते हैं। उनके पट्टपर क्रम से सिद्धसेनसूरि, धनेश्वरसूरि और महेन्द्रसूरि ये तीन आचार्य प्रतिष्ठित हुए। यही 4 नाम इस गच्छ के पट्टधर आचार्यों को पुनः-पुनः प्राप्त होते रहे। इस गच्छ के मुनिजनों की प्रेरणा से वि.सं. 1272 में बृहत्संग्रहणीपुस्तिका और वि.सं. 1592 में षट्कर्मअवचूरि की प्रतिलिपि करायी गयी। यह बात उनकी दातप्रशस्ति से ज्ञात होती है। गच्छ से सम्बद्ध यही साहित्यिक साक्ष्य आज प्राप्त होते हैं। इसके विपरीत इस गच्छ से सम्बद्ध बड़ी संख्या में जिनप्रतिमायें मिली हैं जो वि.सं. 1102 से वि.सं. 1599 तक की हैं। इससे प्रतीत होता है कि इस गच्छ के मुनिजन पठन-पाठन की ओर से प्रायः उदासीन रहते हुए जिनप्रतिमा की प्रतिष्ठा

और चैत्यों की देखरेख में ही प्रवृत्त रहते थे। श्रावकों को नूतन जिनप्रतिमाओं के निर्माण की प्रेरणा देना ही इनका प्रमुख कार्य रहा। सुविहितमार्गीय मुनिजनों के बढ़ते हुए प्रभाव के बावजूद चैत्यवासी गच्छों का लम्बे समय तक बने रहना समाज में उनकी प्रतिष्ठा और महत्त्व का परिचायक है।

निवृत्तिगच्छ निर्गन्थ दर्शन के चैत्यवासी गच्छों में निवृत्तिकुल (बाद में निवृत्तिगच्छ) भी एक है। पर्युषणाकल्प की स्थविरावली में इस कुल का उल्लेख नहीं मिलता। इससे प्रतीत होता है कि यह कुल बाद में अस्तित्व में आया। इस कुल का सर्वप्रथम उल्लेख अकोटा से प्राप्त धातु की दो प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण लेखों में प्राप्त होता है। उमाकान्त पी. शाह ने इन लेखों की वाचना इस प्रकार दी है<sup>37</sup> --

1. ॐ देवधर्मोयं निवृ(वृ)तिकुले जिनभद्रवाचनाचार्यस्य।

2. ॐ निवृ(वृ)तिकुले जिनभद्रवाचनाचार्यस्य।

शाह ने इन प्रतिमाओं का काल ई.सन् 550 से 600 के मध्य माना है। दलसुख भाई मालवणिया के अनुसार वाचनाचार्य और क्षमाश्रमण समानार्थक शब्द हैं, अतः जिनभद्रवाचनाचार्य और प्रसिद्ध भाष्यकार जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण एक ही व्यक्ति माने जा सकते हैं।

उपमितिभवप्रपंचाकथा [रचनाकाल वि.सं. 962/ई.सन् 906], सटीकन्यायावतार, उपदेशमालाटीका के रचनाकार सिद्धर्षि, चउपन्नमहापुरुषचरियं [रचनाकाल वि.सं. 925/ई.सन् 869] के रचनाकार शीलाचार्य अपरनाम विमलमति अपरनाम शीलाङ्क, प्रसिद्ध ग्रन्थसंशोधक द्रोणाचार्य, सूरुाचार्य आदि भी इसी कुल से सम्बद्ध थे। यद्यपि इस कुल या गच्छ से सम्बद्ध अभिलेख वि.सं. की 16वीं शती तक के हैं, परन्तु उनकी संख्या न्यून ही है।

इस गच्छ के आदिम आचार्य कौन थे, यह गच्छ कब अस्तित्व में आया, इस बारे में उपलब्ध साक्ष्यों से कोई जानकारी नहीं मिलती। यद्यपि पट्टावलियों में नागेन्द्र, चन्द्र और विद्याधर कुलों के साथ इस कुल की उत्पत्ति का भी विवरण मिलता है, किन्तु उत्तरकालीन एवं भ्रामक विवरणों से युक्त होने के कारण ये पट्टावलियाँ किसी भी गच्छ के प्राचीन इतिहास के अध्ययन के लिये यथेष्ट प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती हैं। महावीर की परम्परा में निवृत्तिकुल का उल्लेख नहीं मिलता, अतः क्या यह पार्श्वपत्त्यों की परम्परा से लाटदेश में निष्पन्न हुआ, यह अन्वेषणीय है।

पल्लीवालगच्छ पल्ली [वर्तमान पाली, राजस्थान] नामक स्थान से पल्लीवाल जाति और श्वेताम्बरों ने, पल्लीवालगच्छ की उत्पत्ति मानी जाती है। इस गच्छ से सम्बद्ध साहित्यिक और अभिलेखीय दोनों प्रकार के साक्ष्य प्राप्त होते हैं। कालिकाचार्यकथा [रचनाकाल वि.सं. 1365] के रचनाकार महेश्वरसूरि, पिंडविशुद्धिदीपिका [रचनाकाल वि.सं. 1627], उत्तराध्ययनबालावबोधिनीटीका [रचनाकाल वि.सं. 1629] और आचारांगदीपिका के रचयिता अजितदेवसूरि इसी गच्छ से सम्बद्ध थे। पल्लीवालगच्छ से सम्बद्ध जो प्रतिमालेख प्राप्त हुए हैं वे वि.सं. 1383 से वि.सं. 1681 तक के हैं।<sup>38</sup> इस गच्छ की एक पट्टावली भी प्राप्त हुई है, जिसके अनुसार यह गच्छ चन्द्रकुल से उत्पन्न हुआ है।

पूर्णतल्लगच्छ चन्द्रकुल से उत्पन्न गच्छों में पूर्णतल्लगच्छ भी एक है। इस गच्छ में जिनदत्तसूरि, यशोभद्रसूरि, प्रद्युम्नसूरि, गुणसेनसूरि, देवचन्द्रसूरि, कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरि, अशोकचन्द्रसूरि, चन्द्रसेनसूरि, रामचन्द्रसूरि, गुणचन्द्रसूरि, बालचन्द्रसूरि आदि कई आचार्य हुए।<sup>39</sup> तिलकभंजरीटिप्पण, जैनतर्कवार्तिकवृत्ति आदि के रचनाकार शातिसूरि इसी गच्छ के थे। देवचन्द्रसूरि ने स्वरचित शातिनाथचरित [रचनाकाल वि.सं. 1160/ई.सन् 1104] की प्रशस्ति में अपनी गुरु-परम्परा का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है --

यशोभद्रसूरि

|

प्रद्युम्नसूरि

|

गुणसेनसूरि

|

देवचन्द्रसूरि [ वि.सं. 1160/ई.सन् 1104 में

शांतिनाथचरित के रचनाकार ]

इसके अतिरिक्त देवचन्द्रसूरि ने स्थानकप्रकरणटीका अपरनाम मूलशुद्धिप्रकरणवृत्ति की भी रचना की। चौलुक्यनरेश कुमारपालप्रतिबोधक, कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रसूरि, उत्पादादिसिद्धिप्रकरण [ रचनाकाल वि.सं. 1205/ई. सन् 1149 ] के रचयिता चन्द्रसेनसूरि तथा अशोकचन्द्रसूरि उक्त देवचन्द्रसूरि के शिष्य थे। हेमचन्द्रसूरि की शिष्य परम्परा में प्रसिद्धनाट्यकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र, अनेकार्थसंग्रह के टीकाकार महेन्द्रसूरि, स्नातस्या नामक प्रसिद्ध स्तुति के रचयिता बालचन्द्रसूरि, देवचन्द्रसूरि उदयचन्द्रसूरि, यशश्चन्द्रसूरि, वर्धमानगणि आदि हुए।

पिप्पलगच्छ वडगच्छीय आचार्य सर्वदेवसूरि के प्रशिष्य और नेमिचन्द्रसूरि के शिष्य आचार्य शांतिसूरि ने वि.सं. 1181/ई.सन् 1125 में पीपलवृक्ष के नीचे महेन्द्रसूरि, विजयसिंहसूरि आदि आठ शिष्यों को आचार्य पद प्रदान किया। पीपलवृक्ष के नीचे उन्हें आचार्यपद प्राप्त होने के कारण उनकी शिष्यसन्तति पिप्पलगच्छीय कहलायी।<sup>40</sup> सिंहासनद्वित्रिशिका [ रचनाकाल वि.सं. 1484/ई.सन् 1428 ] के रचनाकाल सागरचन्द्रसूरि, वस्तुपालतेजपालरास [ रचनाकाल वि.सं. 1484/ई.सन् 1428 ], विद्याविलासपवाडो आदि के कर्त्ता प्रसिद्ध ग्रन्थकार हीरानन्दसूरि, कालकसूरिभास के कर्त्ता आनन्दमेरु इसी गच्छ के थे। इस गच्छ की दो अवान्तर शाखाओं का पता चलता है --

1. त्रिभवीयाशाखा
2. तालध्वजीयाशाखा

अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर वि.सं. 1778 तक इस गच्छ का अस्तित्व सिद्ध होता है।

पूर्णिमागच्छ या पूर्णिमापक्ष मध्ययुगीन श्वेताम्बर गच्छों में पूर्णिमागच्छ का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। चन्द्रकुल के आचार्य जयसिंहसूरि के शिष्य चन्द्रप्रभसूरि द्वारा पूर्णिमा को पाक्षिक पर्व मनाये जाने का समर्थन करने के कारण उनकी शिष्य सन्तति पूर्णिमापक्षीय या पूर्णिमागच्छीय कहलायी। वि.सं. 1149 या 1159 में इस गच्छ का आविर्भाव माना जाता है।<sup>41</sup> इस गच्छ में आचार्य धर्मघोषसूरि, देवसूरि, चक्रेश्वरसूरि, समुद्रघोषसूरि, विमलगणि, देवभद्रसूरि, तिलकाचार्य, मुनिरत्नसूरि, कमलप्रभसूरि, महिमाप्रभसूरि आदि कई प्रखर विद्वान् आचार्य हो चुके हैं। इस गच्छ की कई आवन्तरशाखायें अस्तित्व में आयीं, जैसे -- प्रधानशाखा या ढंढेरियाशाखा, सार्धपूर्णिमाशाखा, कच्छोलीवालशाखा, भीमपल्लीयशाखा, वटपट्टीयशाखा, बोरसिद्धीयशाखा, भृगुकच्छीयशाखा, छापेरियाशाखा आदि। इस गच्छ के मुनिजनों द्वारा रचित ग्रन्थों की प्रशस्तियों, उनकी प्रेरणा से लिपिबद्ध कराये गये प्राचीन ग्रन्थों की दाताप्रशस्तियों एवं पट्टावलियों में इस गच्छ के इतिहास की महत्त्वपूर्ण सामग्री संकलित है। यही बात इस गच्छ से सम्बद्ध बड़ी संख्या में प्राप्त प्रतिमालेखों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

ब्रह्माणगच्छ अर्बुदमण्डल के अर्न्तगत वर्तमान वरमाण [ प्राचीन ब्रह्माण ] नामक स्थान से इस गच्छ की उत्पत्ति मानी जाती है।<sup>42</sup> इस गच्छ से सम्बद्ध बड़ी संख्या में प्रतिमालेख प्राप्त होते हैं जो वि.सं. 1124 से

16वीं शती के अन्त तक के हैं। इन लेखों में विमलसूरि, बुद्धिसागरसूरि, उदयप्रभसूरि, मुनिचन्द्रसूरि आदि आचार्यों के नाम पुनः पुनः आते हैं, जिससे प्रतीत होता है कि इस गच्छ के मुनिजन चैत्यवासी रहे होंगे। इस गच्छ से सम्बद्ध साहित्यिक साक्ष्यों का प्रायः अभाव है, अतः इसके बारे में विशेष बातें ज्ञात नहीं होती हैं।

वडगच्छ सुविहितमार्गप्रतिपालक और चैत्यवासविरोधी गच्छों में वडगच्छ का प्रमुख स्थान है। परम्परानुसार चन्द्रकुल के आचार्य उद्योतनसूरि ने वि.सं. 994 में आबू के निकट स्थित टेलीग्राम में वटवृक्ष के नीचे सर्वदेवसूरि सहित 8 शिष्यों को आचार्यपद प्रदान किया। वटवृक्ष के नीचे उन्हें प्राप्त होने के कारण उनकी शिष्यसन्तति वडगच्छीय कहलायी। वटवृक्ष के समान इस गच्छ की भी अनेक शाखायें-प्रशाखायें अस्तित्व में आयीं, अतः इसका एक नाम बृहद्गच्छ भी पड़ गया।<sup>43</sup> गुर्जरभूमि में विधिमार्गप्रवर्तक वर्धमानसूरि, उनके शिष्य जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि, नवाङ्गीवृत्तिकार अभयदेवसूरि, आख्यानकमणिकोश के रचयिता देवेन्द्रगणि अपरनाम नेमिचन्द्रसूरि, उनके शिष्य आम्रदेवसूरि, प्रसिद्ध ग्रन्थकार मुनिचन्द्रसूरि, उनके पट्टधर प्रसिद्ध वादी देवसूरि, रत्नप्रभसूरि, हरिभद्रसूरि आदि अनेक प्रभावक और विद्वान् आचार्य हो चुके हैं। इस गच्छ की कई अंवांतर शाखायें अस्तित्व में आयीं, जैसे वि.सं. 1149 या 1159 में यशोभद्र-नेमिचन्द्र के शिष्य और मुनिचन्द्रसूरि के ज्येष्ठ गुरुभ्राता चन्द्रप्रभसूरि से पूर्णिमागच्छ का उदय हुआ। इसी प्रकार वडगच्छीय शातिसूरि द्वारा वि.सं. 1181/ई. सन् 1125 में पीपलवृक्ष के नीचे महेन्द्रसूरि, विजयसिंहसूरि आदि 8 शिष्यों के आचार्यपद प्रदान करने के कारण उनकी शिष्यसन्तति पिप्पलगच्छीय कहलायी। अभिलेखीय साक्ष्यों द्वारा वि.सं. की 17वीं शती के अन्त तक वडगच्छ का अस्तित्व ज्ञात होता है।

मलधारिगच्छ या हर्षपुरीयगच्छ हर्षपुर (वर्तमान हरसौर) नामक स्थान से इस गच्छ की उत्पत्ति मानी जाती है। जिनप्रभसूरि विरचित कल्पप्रदीप [रचनाकाल वि.सं. 1389/ई.सन् 1333] के अनुसार एक बार चौलुक्यनरेश जयसिंह सिद्धराज ने हर्षपुरीयगच्छ के आचार्य अभयदेवसूरि को मलमालिन वस्त्र एवं उनके मलयुक्तदेह को देखकर उन्हें 'मलधारि' नामक उपाधि से अलंकृत किया। उसी समय से हर्षपुरीयगच्छ मलधारिगच्छ के नाम से विख्यात हुआ।<sup>44</sup> इस गच्छ में अनेक ग्रन्थों के प्रणेता हेमचन्द्रसूरि, विजयसिंहसूरि, श्रीचन्द्रसूरि, लक्ष्मणगणि, विबुधप्रभसूरि, जिनभद्रसूरि, मुनिचन्द्रसूरि, देवप्रभसूरि, नरचन्द्रसूरि, नरेन्द्रप्रभसूरि, राजशेखरसूरि, सुधाकलश आदि प्रसिद्ध आचार्य और विद्वान् मुनिजन हो चुके हैं। इस गच्छ के मुनिजनों द्वारा बड़ी संख्या में रची गयी कृतियों की प्रशस्तियों एवं गच्छ से सम्बद्ध वि.सं. 1190 से वि.सं. 1699 तक के प्रतिमालेखों में इतिहास सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होती है।

मोढगच्छ गुजरात राज्य के मेहसाणा जिले में अवस्थित मोढेरा [प्राचीन मोढेर] नामक स्थान से मोढज्ञाति एवं मोढगच्छ की उत्पत्ति मानी जाती है। ई.सन् की 10वीं शताब्दी की धातु की दो प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण लेखों में इस गच्छ का उल्लेख प्राप्त होता है। इससे प्रमाणित होता है कि उक्त तिथि के पूर्व यह गच्छ अस्तित्व में आ चुका था।<sup>45</sup> प्रभावकचरित से भी उक्त मत की पुष्टि होती है। ई.सन् 1171/वि.सं. 1227 के एक लेख में भी इस गच्छ का उल्लेख मिलता है। श्री पूरनचन्द नाहर ने इसकी वाचना इस प्रकार दी है --

सं. 1227 वैशाख सुदि 3 गुरौ नंदाणि ग्रामेन्या भ्राविकया आत्मीयपुत्र लूणदे श्रेयर्थं चतुर्विंशति पट्टः कारिताः ॥ श्रीमोढगच्छे बप्पभट्टिसंताने जिनभद्राचार्यैः प्रतिष्ठितः । जैनलेखसंग्रह भाग 2, लेखांक 1694

वि.सं. 1325 में प्रतिलिपि की गयी कालकाचार्यकथा की दाता प्रशस्ति में मोढगुरु हरिप्रभसूरि का उल्लेख प्राप्त होता है। यद्यपि इस गच्छ से सम्बद्ध साक्ष्य सीमित संख्या में प्राप्त होते हैं, फिर भी उनके आधार पर इस गच्छ का लम्बे काल तक अस्तित्व सिद्ध होता है। प्रो. एम.ए. ढांकी का मत है कि जैनधर्मानुयायी मोढ ज्ञाति द्वारा स्थानकवासी (अमूर्तिपूजक) जैनधर्म अथवा वैष्णवधर्म स्वीकार कर लेने से इस श्वेताम्बर मूर्ति पूजक

परम्परा में गच्छ का अस्तित्व समाप्त हो गया।

राजगच्छ चन्द्रकुल से समय-समय पर अनेक गच्छों का प्रादुर्भाव हुआ, राजगच्छ भी उनमें एक है। वि. सं. की 11वीं शती के आस-पास इस गच्छ का प्रादुर्भाव माना जाता है। चन्द्रकुल के आचार्य प्रद्युम्नसूरि के प्रशिष्य और अभयदेवसूरि के शिष्य धनेश्वरसूरि 'प्रथम' दीक्षा लेने के पूर्व राजा थे, अतः उनकी शिष्य-सन्तति राजगच्छ के नाम से विख्यात हुई।<sup>46</sup> इस गच्छ में धनेश्वरसूरि 'द्वितीय', अनेक कृतियों के कर्ता पार्श्वदेवगणि अपरनाम श्रीचन्द्रसूरि, सिद्धसेनसूरि, देवभद्रसूरि, माणिक्यचन्द्रसूरि, प्रभाचन्द्रसूरि आदि कई प्रभावक और विद्वान् आचार्य हुए हैं। इसी गच्छ के वादीन्द्र धर्मघोषसूरि की शिष्य सन्तति अपने गुरु के नाम पर धर्मघोषगच्छीय कहलायी।

यद्यपि राजगच्छ से सम्बद्ध अभिलेखीय साक्ष्य भी मिलते हैं जो वि. सं. 1128 से वि. सं. 1509 तक के हैं, तथापि उनकी संख्या न्यून ही है। साहित्यिक साक्ष्यों द्वारा इस गच्छ का अस्तित्व वि. सं. की 14वीं शती तक ही ज्ञात हो पाता है किन्तु अभिलेखीय साक्ष्यों द्वारा वि. सं. की 16वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक इस गच्छ का अस्तित्व प्रमाणित होता है।

रुद्रपल्लीयगच्छ यह खरतरगच्छ की एक शाखा है जो वि. सं. 1204 में जिनेश्वरसूरि से अस्तित्व में आयी। रुद्रपल्ली नामक स्थान से इस गच्छ की उत्पत्ति हुई। इस गच्छ में देवसुन्दरसूरि, सोमसुन्दरसूरि, गुणसमुद्रसूरि, हर्षदेवसूरि, हर्षसुन्दरसूरि आदि कई आचार्य हुए हैं। वि. सं. की 17वीं शताब्दी तक इस गच्छ की विद्यमानता का पता चलता है।<sup>47</sup>

वायडगच्छ गुजरात राज्य के पालनपुर जिले में अवस्थित डीसा नामक स्थान के निकट वायड नामक ग्राम है जहाँ से छठवीं-सातवीं शती में वायडज्ञाति और वायडगच्छ की उत्पत्ति मानी जाती है। इस गच्छ में पट्टधर आचार्यों को जिनदत्त, राशिल्ल और जीवदेव ये तीन नाम पुनः पुनः प्राप्त होते थे, जिससे पता चलता है कि इस गच्छ के अनुयायी चैत्यवासी रहे। बालभारत और काव्यकल्पलता के रचनाकार अमरचन्द्रसूरि, विवेकविलास व शकुनशास्त्र के प्रणेता जिनदत्तसूरि वायडगच्छ के ही थे। सुकृतसंकीर्तन का रचनाकार ठक्कुर अरिसिंह इसी गच्छ का अनुयायी एक श्रावक था।<sup>48</sup>

विद्याधरगच्छ नागेन्द्र, निर्वृत्ति और चन्द्र कुल की भौति विद्याधरकुल भी बाद में विद्याधर गच्छ के रूप में प्रसिद्ध हुआ। इस गच्छ से सम्बद्ध कुछ प्रतिमालेख प्राप्त हुए हैं। जालिहरगच्छीय देवप्रभसूरि द्वारा रचित पद्मप्रभघरित [रचनाकाल वि. सं. 1254/ई. सन् 1198] की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि काशहृद और जालिहर ये दोनों विद्याधर गच्छ की शाखायें हैं।<sup>49</sup> विद्याधरगच्छ के सम्बन्ध में विशेष विवरण अन्वेषणीय हैं।

संडेरगच्छ मध्ययुगीन श्वेताम्बर चैत्यवासी गच्छों में संडेरगच्छ का भी प्रमुख स्थान है। जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट होता है संडेर (वर्तमान सांडेराव - राजस्थान) नामक स्थान से यह गच्छ अस्तित्व में आया। ईश्वरसूरि इस गच्छ के आदिम आचार्य माने जाते हैं। शालिसूरि, सुमत्तिसूरि, शांतिसूरि और ईश्वरसूरि ये चार नाम पुनः पुनः इस गच्छ के पट्टधर आचार्यों को प्राप्त होते रहे। संडेरगच्छीय मुनिजनों द्वारा लिखित ग्रन्थों की अन्त्य प्रशस्तियों एवं उनकी प्रेरणा से लिखाये गये ग्रन्थों की दाता प्रशस्तियों में इस गच्छ के इतिहास की महत्त्वपूर्ण सामग्री संकलित है। यही बात इस गच्छ से सम्बद्ध प्रतिमालेखों -- जो वि. सं. 1039 से वि. सं. 1732 तक के हैं, के बारे में भी कही जा सकती है।<sup>50</sup> सागरदत्तरास [रचनाकाल वि. सं. 1550], ललितांगघरित, श्रीपालचौपाइ, सुमित्रघरित्र आदि के रचनाकार ईश्वरसूरि इसी गच्छ के थे। प्राचीन ग्रन्थों के प्रतिलेखन की पुष्पिकाओं के आधार पर ई. सन् की 18वीं शती तक इस गच्छ का अस्तित्व ज्ञात होता है।

सरवालगच्छ पूर्वमध्ययुगीन श्वेताम्बर चैत्यवासी गच्छों में सरवालगच्छ भी एक है। चन्द्रकुल की एक शाखा

के रूप में इस गच्छ का उल्लेख प्राप्त होता है। इस गच्छ से सम्बद्ध वि.सं. 1110 से वि.सं. 1283 तक के कुछ प्रतिमालेख प्राप्त हुए हैं। पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति [रचनाकाल वि.सं. 1160/ई.सन् 1104] के रचयिता वीरगणि अपरनाम समुद्रघोषसूरि इसी गच्छ के थे। इस गच्छ के प्रवर्तन कौन थे, यह गच्छ कब अस्तित्व में आया, इस बारे में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती।<sup>51</sup> सरवाल जैनों की कोई ज्ञाति थी अथवा किसी स्थान का नाम था जहाँ से यह गच्छ अस्तित्व में आया, यह अन्वेषणीय है।

## सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. भगवतीसूत्र, 15/1/539-61.
2. वही, 9/33/386-7.
3. कल्पसूत्रस्थविरायली, 205-223.
4. नन्दीसूत्रस्थविरायली, 25-48.
5. विशेषावश्यकभाष्य 3053 और आगे, आवश्यकभाष्य 145 और आगे, आवश्यकघूर्णी, प्रथम भाग, पृ. 427,586.
6. कल्पसूत्रस्थविरायली, 216-221.
7. वही,
8. सम्बोधप्रकरण,
9. खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली संपा. जिनविजय, [सिंघी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 42, बम्बई 1956 ई. ], पृ.2-3.
10. द्रष्टव्य, संदर्भ संख्या 12.
11. श्रीपार्श्व -- अंचलगच्छदिग्दर्शन [ बम्बई, 1980 ई. ], पृ. 10.
12. अगारचन्दनाहटा -- "जैन श्रमणों के गच्छों पर संक्षिप्त प्रकाश" यतीन्द्रसूरि अभिनन्दनग्रन्थ [ आहोर, 1958 ई. ], पृ.141.
13. शिवप्रसाद -- "आगमिकगच्छ अपरनाम ( प्राचीन ) त्रिस्तुतिकगच्छ का इतिहास" पं. दलसुखभाई मालवणिया अभिनन्दन ग्रन्थ, वाराणसी 1991 ई.स., पृष्ठ 241-284.
14. शिवप्रसाद -- "उपकेशगच्छ का संक्षिप्त इतिहास" श्रमण वर्ष 42, अंक 7-12, पृ. 91-182.
15. वही, पृ. 181-182.
16. C.D. Dalal -- A Descriptive Catalogue of Manuscripts in the Jain Bhandars at Pattan, Gaekwad's Oriental Series No. LXXVI, Baroda, 1937 A.D., pp.210-213.
17. H.D. Velankar -- Jinaratnakosa, Bhandarkar Oriental Research Institute, Government Oriental Series, Class C No. 4, Poona, 1944 A.D., pp. 349-350.
18. "कृष्णर्षिगच्छ का संक्षिप्त इतिहास" नामक मेरा एक शोध-निबन्ध लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित होने वाली वार्षिक शोध-पत्रिका सम्बोधि के आगामी नये अंक में प्रकाशनार्थ स्वीकृत हो चुका है.
19. शिवप्रसाद -- "कोरंटगच्छ का संक्षिप्त इतिहास", श्रमण, वर्ष 40, अंक 5, पृ.15-43.
20. शिवप्रसाद -- "भावडारगच्छ का संक्षिप्त इतिहास", श्रमण, वर्ष 40, अंक 3, पृ.15-33.
21. नाहटा, पूर्वोक्त, पृ. 145-146.
22. मुनि जिनविजय -- संपा. खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 42, बम्बई 1956 ई., भूमिका, पृ.6-12.



23. भोगीलाल सांडेसरा -- "महामात्य वस्तुपाल का साहित्यमंडल और संस्कृत साहित्य में उसकी देन, जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, सन्मति प्रकाशन नं. 15, वाराणसी, 1959 ई., पृ. 106-109.
  24. वेलणकर, पूर्वोक्त, पृ. 288 और 423-424.
  25. द्रष्टव्य संदर्भ संख्या 16.
  26. शिवप्रसाद -- "जालिहरगच्छ का संक्षिप्त इतिहास" भ्रमण, वर्ष 43, अंक 4-6, पृ. 41-46.
  27. नाहटा, पूर्वोक्त, पृ. 148.
  28. वही, पृ. 148-149.
- एवं
- मुनिकान्तिसागर -- शत्रुंजयवैभव, कुशल संस्थान, पुष्प 4, जयपुर 1990 ई., पृ. 369-270.
  29. शिवप्रसाद -- "थारापद्रगच्छ का संक्षिप्त इतिहास" निर्गन्थ, वर्ष 1, अंक 1, अहमदाबाद 1994 ई.
  30. नाहटा, पूर्वोक्त, पृ. 148-149.
  - मोहनलाल दलीचन्द देसाई -- जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, बम्बई, 1933 ई., पृ. 384.
  - पं. लालचन्द भगवानदास गांधी -- ऐतिहासिकलेखसंग्रह, बडोदरा - 1963 ई., पृ. 162.
  - हीरालाल रसिकलाल कापड़िया -- जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास भाग 2, बडोदरा, 1968 ई., पृ. 132.
  - गुलाबचन्द्र चौधरी -- जैन साहित्य का बृहद्इतिहास, भाग 6, वाराणसी 1973 ई., पृ. 270-71.
  31. नाहटा, पूर्वोक्त, पृ. 150.
  32. शिवप्रसाद -- "धर्मघोषगच्छ का संक्षिप्त इतिहास" भ्रमण, वर्ष 41, अंक 1-3, पृ. 45-103.
  33. नाहटा, पूर्वोक्त, पृ. 151.
  34. U.P. Shah -- Akota Bronzes, [Bombay 1959] pp. 34-35.
  - सांडेसरा, पूर्वोक्त, पृ. 96-100.
  35. नाहटा, पूर्वोक्त, पृ. 151.
  36. शिवप्रसाद "नाणकीयगच्छ" भ्रमण, वर्ष 40, अंक 7, पृ. 2-34.
  37. शाह, पूर्वोक्त, पृ. 29, 33-34.
  - इस गच्छ के सम्बन्ध में विचार के लिये द्रष्टव्य -- शिवप्रसाद " निवृत्तिकुल का संक्षिप्त इतिहास" निर्गन्थ वर्ष 1, अंक 1, अहमदाबाद 1994 ई.
  38. अगरचन्द नाहटा -- "पल्लीवाल्मगच्छपट्टावली" श्री आत्मारामजी शताब्दी ग्रन्थ, पृ. 182-196.
  39. भोगीलाल सांडेसरा -- हेमचन्द्राचार्य का शिष्य मण्डल, जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, पत्रिका नं. 31, वाराणसी, 1951 ई., पृ. 3-20.
  40. पिप्पलगच्छ और पूर्णिमागच्छ तथा उनकी शाखाओं के उद्भव एवं विकास पर इन पंक्तियों के लेखक ने विस्तृत शोध-निबन्ध लिखा है, जो अद्यावधि अप्रकाशित है.
  41. वही,
  42. नाहटा, पूर्वोक्त, पृ. 153.
  43. शिवप्रसाद -- "बृहद्गच्छ का संक्षिप्त इतिहास" पं. दलसुख भाई मालवणिया अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. 105-117.
  44. मुनिजिनविजय, संपा. कल्पप्रदीप अपरनाम विविधतीर्थकल्प सिंघी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 10, शांतिनिकेतन - 1934 ई., पृ. 51.

45. M. A. Dhaky -- "Modhera, Modha - Vansa, Modha Gaccha and Modha-Caityas", Journal of the Asiatic Society of Bombay Volumes 56-59/1981-84 (Combined) [New Series], Bombay-1986 A.D., pp. 144-159.
46. अन्यान्य गच्छों की भाँति मैंने राजगच्छ का भी इतिहास लिखा है, जो प्रकाशनाधीन है.
47. नाहटा, पूर्वोक्त, पृ. 155-156.
48. सांडेसरा, पूर्वोक्त, पृ. 90-91.
49. द्रष्टव्य -- सन्दर्भ संख्या 16.
50. शिवप्रसाद -- "संडेरगच्छ का संक्षिप्त इतिहास" पं. दलसुख भाई मालवणिया अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. 194-217.
51. शिवप्रसाद -- "सरवालगच्छ का संक्षिप्त इतिहास" सन्धान, वर्ष 4, वाराणसी 1992 ई., पृ. 51-56.

---

\* शोध अध्येता, प्रा. इ. सं. एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी